

साहित्य से दोस्ती

साहित्य में कल्पना जितनी भी हो हवाई कुछ नहीं होता। लिहाजा मौजू ही रहा कि 'साहित्य से दोस्ती' का यह विवरण उत्तराखंड में दस दिन (16-25 सितम्बर, 2014) की पुस्तक यात्रा के बीच लिखना शुरू हुआ। यात्रा के केंद्र में था साहित्य उपक्रम से प्रकाशित त्रेपन सिंह चौहान का उपन्यास, सत्ता और पूंजी की विषयभरी यारी का आख्यान, 'हे ब्यारी'। राज्य आन्दोलन पर 2007 में आये उनके चर्चित उपन्यास 'यमुना' की अगली कड़ी। पारम्परिक पलायन और नव-औपनिवेशिक संसाधन-लूट से जूझते राज्य में साहित्य का दखल!

चौहान लगातार जुड़े रहे; लघु-कथाकार अशोक भाटिया तीन दिन साथ चले; और अल्मोड़ा से सारी रात की बस यात्रा के बाद पौड़ी में डायबिटीजवाले सूजे पावों के साथ आन्दोलनकारी शमशेर सिंह बिष्ट शामिल हुए। नैनीताल से 'नैनीताल समाचार' के राजीव लोचन साह का साथ रहा। रचना के साथ खड़े रचनाकारों का एक और सिलसिलाः साहित्य की जरूरत, साहित्य की प्रतीक्षा और साहित्य के पाठकों के प्रति आश्वस्त करता हुआ। मुख्य पड़ावः देहरादून, पौड़ी, अगस्त मुनि, गोपेश्वर, बागेश्वर, पिथौरागढ़, अल्मोड़ा, नैनीताल और हल्द्वानी। कालेजों में घोषित/अघोषित साहित्य प्रदर्शनों में उमड़े, उधार मांग कर भी किताबें खरीदते छात्र-छात्राएं; और समाजकर्मी युवाओं के उत्साही आयोजनों/विमर्शों के समारंभ बौद्धिक समुदाय की चंद थकेली-सी पर बेहद जरूरी गोष्ठियां भी।

दशक से कुछ अधिक पूर्व की अपनी पहली साहित्य यात्रा यादों में ताजा हो रही है। पूर्वी उत्तरप्रदेश के आधा दर्जन जिलों मेंः झाँसिगं सीट पर, लाल बहादुर वर्मा बगल में और कार की पिछली सीटें और बूट किताबों से भरे हुए। अच्छी खासी बारिश के दिन। बलिया के रास्ते में मूसलाधार बरसते पानी में सड़क पर इक्का-दुक्का चलते हाथियों के विलुप्त होते नजरों भी मिले। हमें याद आया कि हिन्दी समाज में साहित्य की दुर्लभता के ऐसे ही चित्र पेश किये जा रहे हैं। प्रकाशकों-लेखकों के आम उद्गार होतेः आजकल साहित्य कौन खरीदता है! उस यात्रा में मूल सूत्र भी पकड़ में आया कि हिन्दी साहित्य का कारोबार ऐसा विकृत हो चला है कि कुएं को ही प्यासे के पास जाना होगा। और यह भी कि साहित्य पाठक की जेब और जरूरत के निरपेक्ष नहीं हो सकता। 'साहित्य से दोस्ती' का सिलसिला चल पड़ा किताबों का सार्वजनिक प्रदर्शन और लोगों से बातचीत, लेखकों की सक्रिय उपस्थिति, उत्सुक पाठकों का अपनी जरूरत के मुताबिक चयन और जेब के मुताबिक खरीदारी। सड़क किनारे की साप्ताहिक सब्जीमंडी, कस्बाई बाजार, स्कूली आयोजन, उपभोक्ता मेले, पेशेवर सम्मलेन, मोहल्ला सभा, राजनीतिक/सामाजिक आयोजन, सभी साहित्य के रिटेल मंच हो गए।

तकरीबन पंद्रह वर्ष पहले हमने इस दुनिया को खरोचना शुरू किया था। प्रकाशकों के स्वर में हिन्दी पाठक के लिए बेहद तिरस्कार भरा मिला जो उनकी अनाप-शनाप कीमतों पर किताबें खरीद पाने में असमर्थ था। धीरे-धीरे यह तिलिस्म खुलता गया कि हिन्दी का प्रकाशक, पाठक का मुहताज ही नहीं रह गया

तब भी न हिन्दी के बड़े प्रकाशकों को घाटे की फिक्र है और न हिन्दी में लेखन कम हुआ है। हिन्दी साहित्य का यह अजीबोगरीब रवैया रिटेल प्रणाली, लेखकों पर निवेश या व्यक्तिगत पाठक की परवाह किये बिना थोक मुनाफाखोरी से संचालित है। भारतीय कारपोरेट जगत के अम्बानी बंधुओं की तरह हिन्दी साहित्य जगत में माहेश्वरी बन्धु हैं और उन्हीं के स्थापित बाजार समीकरण दूसरे प्रकाशकों के भी आदर्श बन बैठे हैं। जैसे अम्बानी बन्धुओं ने बड़े राजनेताओं को जेब में रखा हुआ है वैसे ही माहेश्वरी बन्धुओं ने मठाधीश लेखकों को यैसे राजनेताओं का जनता से लेना-देना कम रह गया वैसे ही लेखकों के लिए भी पाठकों तक पहुँचना-न पहुँचना असंगत हो चला है।

था। वह प्रायोजित बिक्री से मोटा हो रहा था। घूस और कमीशन उसके हथियार थे। कई प्रतिष्ठित साहित्यकार और साहित्य-रत नौकरशाह उसके बौद्धिक दलाल बने हुए थे। उसके रडार से व्यक्तिगत पाठक एक नदारद जैसा ही वर्ग था। जब इस जिद के साथ कि कीमतें हिन्दी पाठक की पाकेट साइज के हिसाब से होनी चाहिए, हम प्रकाशन में उतरे तो पाया कि आम चलन लागत से आठ से बारह गुणा तक कीमतें रखने का चल रहा था। साहित्य उपक्रम को, सौ से अधिक टाइल के बाद भी, डेढ़-दो गुणा से आगे जाने की जरूरत नहीं पड़ी। विशुद्ध मुनाफे का व्यवसाय करनेवाले प्रकाशक को भी चार गुणा से आगे जाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए पर यह व्यक्तिगत पाठक को नकार कर सम्भव नहीं।

आश्चर्य नहीं कि हिन्दी साहित्य के आज के दौर में एक भी लेखक नहीं मिलता जो अपने प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञ हो या उनके प्रति सम्मान रखता हो। ऐसे पाठक नहीं मिलते जो किसी लेखक विशेष की अगली रचना की प्रतीक्षा कर रहे हों। प्रकाशक नहीं रहे जिनकी रूचि पाठकों की व्यक्तिगत खरीद बढ़ाने में हो। प्रकाशन-पूर्व रचना के सम्पादन पर निवेश का चलन नहीं है और आलोचक अच्छी से अच्छी रचना को भी ढेरों-ढेर प्रकाशित हो रहे कूड़ा-करकट से अलग कर नहीं दिखा पा रहे। तमाम सम्मानों/पुरस्कारों की विश्वसनीयता घटती गयी है। क्या मैं कुछ ज्यादा नहीं बहक गया? पर सोचिये, आखिर शहरों-कस्बों की साहित्य की दुकानें कहाँ गायब हो गयीं? सारे उत्तराखंड में बस एक देहरादून में मिली, दो अल्मोड़ा में, दो हल्द्वानी में और एक नैनीताल में! और ये भी मुख्यतः अंग्रेजी साहित्य से पटी हुई। अंग्रेजीदां युवा अंग्रेजी साहित्य इस लिए खरीद पा रहा है कि उसकी पाकेट साइज बड़ी है; और वह खरीद भी इस लिए रहा है कि यह साहित्य उसकी जरूरत पूरी कर रहा है। स्पष्ट ही, हिन्दी साहित्यिक परिदृश्य हिन्दी समाज की जेब और जरूरत के अनुरूप नहीं चल पाया।

तब भी न हिन्दी के बड़े प्रकाशकों को घाटे की फिक्र है और न हिन्दी में लेखन कम हुआ है। हिन्दी साहित्य का यह अजीबोगरीब रवैया रिटेल प्रणाली, लेखकों पर निवेश या व्यक्तिगत पाठक की परवाह किये बिना थोक मुनाफाखोरी से संचालित है। भारतीय कारपोरेट जगत के अम्बानी बंधुओं की तरह हिन्दी साहित्य जगत में माहेश्वरी बन्धु हैं और उन्हीं के स्थापित बाजार समीकरण दूसरे प्रकाशकों के भी आदर्श बन बैठे हैं। जैसे अम्बानी बन्धुओं ने बड़े राजनेताओं को जेब में रखा हुआ है वैसे ही माहेश्वरी बन्धुओं ने मठाधीश लेखकों को यैसे राजनेताओं का

जनता से लेना-देना कम रह गया वैसे ही लेखकों के लिए भी पाठकों तक पहुँचना-न पहुँचना असंगत हो चला है।

ऐसा नहीं कि हिन्दी साहित्य जगत में प्रतिरोध के स्वाभाविक स्वर सिर से ही नदारद हैं। यहाँ तक कि लेखकों-संपादकों के महज उत्साह/पहल के दम पर कई अनोखी साहित्यिक पत्रिकाएं आ रही हैं, हालाँकि उनका प्रसारतंत्र जरूरी आर्थिक समर्थन के अभाव में बेहद सीमित है। तो भी, समाज में हिन्दी साहित्य की नदारद आवाज की कड़वी सच्चाई को नकारा नहीं जा सकताः हिन्दी का बड़े से बड़ा लेखक और बड़े से बड़ा साहित्यिक मंच भी नकारखाने में तूती जैसा ही! इस साफगोई के बरक्स कि साहित्य का कलेवर सरकारी आपदा प्रबन्धन विभाग के प्रोफाइल से भिन्न होता है, हिन्दी में लिखा बहुत अच्छा भी जा रहा है, पर जन-विषय यदा-कदा ही समाज तक पहुँच पाते हैं।

बेशक, काश्मीर के मौजूदा जलजले में संवेदी से संवेदी, सक्रिय से सक्रिय साहित्यकर्मी भी घिरे-उजड़े लोगों को अपने साहित्य-कर्म से फौरी राहत नहीं पहुँचा सकता; न तुरंत उन्हें दृष्टि या दिशा देने की पहल कर सकता है। पर एक साल बाद, पांच साल बाद और दस साल बाद भी उसकी इस स्थिति में परिवर्तन नहीं आने को क्या कहेंगे। यहाँ तक कि वह इस जड़ता को शायद ही अपने अवचेतन में महसूस तक करता दिखे। उत्तराखंड यात्रा में लोगों ने जगह-जगह पूछाः राज्य आन्दोलन के दौरान मुजफ्फरनगर में बसें अगवा कर महिलाओं से सामूहिक बलात्कार के दोषियों को सजा का सवाल हिन्दी साहित्य में अब तक क्यों नहीं उठा? एक प्रबुद्ध समाजकर्मी ने मार्क्स की दलील याद दिलाई कि मनुष्य इतिहास रचता है पर मनमर्जी का नहीं। हिन्दी लेखक पर यह कब लागू होगी।

अंतराल के बाद हिन्दी साहित्य की दुनिया में काश्मीर जलजले को लेकर कुछ छिट-पुट घट भी सकता हैः भूली-भटकी एक दो कहानियाँ या चंद कवितायें, जिन्हें भी साहित्यिक विमर्शों में चिह्नित करने की भूल शायद ही की जायेगी। भोपाल गैस काण्ड से लेकर सिख संहार तक और एक साल पहले की उत्तराखंड आपदा से लेकर सदियों की औरतों की शौच त्रासदी पर हिन्दी साहित्य के पास खामोश जुबानी का ही सिलसिला है। कितने गांधी, भगत सिंह, जलियाँवाला बाग रचे गए? कितने बाढ़ और अकाल, आतंक और अन्याय उक्रे जा सके? 'लव जिहाद' का मर्दवादी साम्प्रदायिक मवाद वर्षों से रिस रहा है; राष्ट्रीय राजधानी से घंटे-दो घंटे की दूरी पर दलितों को गावों-बस्तियों से उजाड़नेवाला जातिवादी राजनीति का

सिलसिला बदस्तूर है; कारपोरेटी लूट और काला धनय तकनीकों पर एकाधिकार और सत्ता का नशाः प्रभावी सामाजिक दखल के साहित्यिक अभाव की सूची को आप सुविधानुसार जितना चाहे लम्बा या छोटा कर सकते हैं। हिन्दी साहित्य अपने समाज के नकारखाने में तूती की हैसियत में यू ही नहीं पहुँचा!

पर फिर भीः इसे पाठकों से कटे लेखन की कमी ही कहियेः विडम्बना कई परतों में छिपी है। राजकमल में शीला संधू के आखिरी वर्षों की बात होगी, स्वदेश दीपक मुझे भी वहाँ साथ ले गए। मैंने शीला जी से राजकमल पाकेट बुक्स की गुणवत्ता और कम कीमतों की तारीफ की। कहने लग्यो, यह शृंखला बंद करनी पड़ेगी, लोग खरीदते नहीं हैं। जबकि सवाल दरअसल यह बनना चाहिए था कि प्रकाशक बेचना क्या और किस कीमत पर चाहते हैं? और यह भी कि लोग खरीदना चाहें तो खरीदें कहाँ? उत्तरोत्तर, सोने की मुर्गी हलाल करनेवाले साहित्यिक कारोबार की गतिकी के चलते गतिरोध का ठीकरा पाठकों के सर फोड़ना ही सभी के लिए सुविधाजनक होता गया है। साहित्यकार स्वयं भी इस व्यवस्था के शिकार हैं पर शिकारी के साथ चलने की विवशता नहीं छोड़ पा रहे। अपनी रचनाओं में वे आम पाठक के साथ खड़े होते हैं पर उनका प्रकाशक उन्हें प्रायोजित बिक्री की कब्रगाहों में ले जा रहा है या बहुत हुआ तो पाठ्यक्रमों की नीरसता के हवाले कर रहा है। मैंने अनेकों सन्दर्भों में रचनाकारों से बातचीत में पाया है कि उनमें सामान्य पाठकों तक न पहुँच पाने की भारी कसक है। बहुत अच्छी रचनाएँ भी चंद दोस्तों में ही पढ़ी जाने लगी हैं! पर जवाबदेही में कंधे उचकाकर और यहाँ तक कि तमतमाए स्वर में लेखक जताते हैं कि उनका काम लिखना था सो उन्होंने कर दिया। उन्हें सोचना होगा कि जब एक छायाकार, संगीतकार या चित्रकार अपनी कृति के साथ खड़ा हो सकता है तो एक लेखक क्यों नहीं? 'हे ब्यारी' के लेखक की उत्तराखंड यात्रा में उपस्थिति पाठकों के लिए किसी जादू प्रभाव से कम नहीं थी। मुझे भूलता नहीं जब भगवत रावत अपनी 'निर्वाचित कवितायें' से किताब यात्राओं में कैसे भी श्रोता समूह को साहित्यिक दोस्ती में बाँधनेवाला पाठ किया करते थे।

हर किताब यात्रा इस विश्वास को दृढ़ करती है कि साहित्य की रिटेल दुकानें खत्म हो सकती हैं, कीमतें पाठक की पाकेट साइज से बाहर की जा सकती हैं पर इससे लोगों में पाठक होने की जरूरत समाप्त नहीं हो जाती। नेशनल बुक ट्रस्ट में अरविन्द कुमार की पहल से हिन्दी साहित्य संसार में आया पुस्तक मेलों का सफल दौर भी, व्यावसायिक विकृतियों के गेट-क्रैश के बावजूद, यही सबक दोहराता मिलेगा। साहित्यिक किताबों का असर महज सूचना, मनोरंजन या प्रबोधन तक ही सीमित होता तो साइबर स्पेस और टेलीविजन स्क्रीन भी उसे हजम कर सकते थे। पर अन्तरंग

और सामाजिक अनुभव बाँटने की शिद्दतभी यह प्रणाली भावनात्मक साझेदारी और सशक्तीकरण का अद्भुत जरिया भी बनी रही है। और यहाँ इसका कोई और सानी नहीं।

हरियाणा पुलिस अकादमी, मधुबन (करनाल) में 2005 में तीन सौ लड़कियों का अभूतपूर्व दल प्रशिक्षण के लिए आया। उनके अपनी तरह के मुद्दे थे और पारंपरिक प्रशिक्षक नितांत अनुभवहीन ही सिद्ध हुए। कुछ दिनों बाद सामने आया कि वे लड़कियों को उनकी सुरक्षा के नाम पर शाम सात बजे हॉस्टल में तालाबंद कर देते थे। और भी कई बे सर-पैर की पाबंदियाँ यौनिक अनुशासन के नाम पर लगाई जा रही थीं। इन्हें दूर करने के सिलसिले में महसूस हुआ कि लड़कियों में भी कई मुद्दों को बाँटने में संकोच रहता थाः मुख्यतः स्वास्थ्य, विवाह-सम्बन्ध और नए कैरियर को लेकर उनमें तनाव रहता ही था। मैंने दिल्ली से मैत्रेयी पुष्पा को आमंत्रित किया। वे कई बार आयीं और दो बार मधुबन में एक-एक महीने रहीं। उन्होंने समूह हर लड़की से व्यक्तिगत और छोटे लम्बों में बात की। लड़कियों ने भी उनसे बेहद अंतरंगता से साझेदारी की। मैत्रेयी जी ने इन अनुभवों को एक साहित्यिक किताब की शकल दीः फाइटर की डायरी। अंततः यह किताब उन प्रशिक्षुओं के लिए ही नहीं आनेवाले महिला बैचों के लिए भी सशक्तीकरण की पाठ्य-पुस्तक बन गयी। उन्हें सोचने-बोलने की यह ऊर्जावान समझ कि हमारे जैसे ही और भी कितने ही हैं, साहित्य से ही मिल सकती।

साहित्य क्या है, इस प्रश्न का सटीक उत्तर मुझे ऐसे ही अनुभवों से मिलाः वही जो जीवन का हिस्सा बन जाय! मुख्यतः साहित्य और रंगकर्म को केन्द्र में रख हमने हर पुलिस प्रशिक्षु के लिए 'संवेदी पुलिस' पाठ्यक्रम शुरू किया। तब मैंने सोच ही नहीं जिनदंगियां बदलते देखीं। यदि वे व्यवहारिक अनुभव न रहे होते तो साहित्य से दोस्ती की कवायद साहित्यिक गलियारों में सीमित सिर्फ एक अकादमिक मुहिम भर रही होती। नाटक '1857 : भारत का स्वतंत्रता संग्राम' प्रकाश-ध्वनि-संगीत माध्यम में तैयार किया गया। स्टैडियम प्रांगण में एक घंटे के शो में आठ सौ प्रशिक्षु पुलिसकर्मियों द्वारा पी टी, मार्चिंग, रायफल ड्रिल, घुड़सवारी, बैंड, किला, युद्ध दृश्यों का रोमांचकारी नाट्य समागमः स्क्रिप्ट का फलक देशव्यापी और प्रसंग मुख्यतः हरियाणा की धरती से। चालीस सार्वजनिक शो चार लाख से अधिक लोगों ने देखे। अक्सर शो के अंत में दर्शक 'अभिनेताओं' को काफी देर तक घेरे रहते। अनाम बलिदान की निःस्वार्थ राष्ट्र गाथा को जीवंत करनेवाले ये औरों से भिन्न सिपाही-समूह संवेदी पुलिस कहलाने लगे। क्या हर साहित्यिक रचना उतनी बार लिखी नहीं जाती जितनी बार पढ़ी जाती है। साहित्य से दोस्ती, साहित्य रचने जैसा ही जूनून हुआ!

- विकास नारायण राय

मोदी संदेश: जो कुछ भी करेंगे निडरता से इनके की चोट पर करेंगे

दिल्ली (म.मो.) दिलेर एवं निडर तो मोदी जी पहले से ही थे। लोकसभा चुनावों में अनापेक्षित बहुमत मिलने से तो यह दिलेरी कई गुणा और भी बढ़ गयी है। देश भर की जनता को अपनी डुगडुगी पर नचाने की कला में अपनी महारत के चलते अब उन्हें न तो अपने चुनावी वायदे याद हैं और न ही किसी आलोचना का भय। हाल ही में हुआ मन्त्रिमंडल का विस्तार तो यही सिद्ध करता है।

जिस जयप्रकाश नड्डा को मनमोहन सरकार के वक्त से ही एम्स के सी वी ओ संजीव चतुर्वेदी की ईमानदार कार्यशैली खटक रही थी, जिस नड्डा के लग्गुए-भग्गुए, गुर्गें बरसों से लूट-खसूट में जुटे थे, संजीव द्वारा उनकी मुश्कें कसते ही उसे तकलीफ होने लगी थी, जिस नड्डा के दबाव में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री हर्षवर्धन ने संजीव को उनके पद से हटा दिया, उसी चोर को मोदी ने देश का स्वास्थ्य मन्त्री बना कर यह साफ संदेश दे दिया है कि संजीव को हटाना ही काफ़ी नहीं है, अब खुद आकर लूट-खसूट का वह कार्यक्रम चलायें जिसे संजीव ने गड़बड़ा दिया था।

विदित है कि नड्डा जब कभी हिमाचल प्रदेश के स्वास्थ्यमंत्री रहे थे तो उनका सचिव एवं दलाली करने वाला आइ ए एस अधिकारी विनीत चौधरी एम्स में प्रशासनिक अधिकारी के पद पर तैनात हो गया था। अपनी इस तैनाती के दौरान उसने इस संस्थान में लूट-खसूट का पूरा जाल बिछा दिया था। संजीव ने तैनात होते ही उस पूरे जाल एवं गिरोह का पर्दाफ़ाश करते हुए छोटे-बड़े करीब 70 अधिकारियों/कर्मचारियों के विरुद्ध दोष सिद्ध करके उन पर करोड़ों की पेनल्टी डाल दी थी। संजीव के इसी किये थे को 'ठीक' करने के लिये मोदी जी ने नड्डा को फुल पावर दे दी है। ऐसे में देश भर की चिकित्सा सेवाओं और मेडिकल कॉलेजों में जनता के साथ क्या बीतेगी, समझना कठिन नहीं है।

मात्र 100 दिन में काले धन की पाई-पाई देश में लाने का चुनावी वायदा करने वाले मोदी जी को अब पता ही नहीं कि देश का कितना धन विदेशों में है, जबकि चुनाव के वक्त उन्हें सारे आंकड़े पता थे। चलो विदेशों के धन की बात तो छोड़ो उनके अपने बिहारी सांसद गिरिराज सिंह से बरामद हुए करोड़ों के काले धन का मामला रफ़ा-दफ़ा करके उन्हें बतौर इनाम मन्त्री पद से भी नवाज दिया। इसी तरह आंध्र प्रदेश के उस सांसद को भी मन्त्री बना दिया जो 300 करोड़ का डिफ़ाल्टर है। जिस सदानन्द गौड़ा का बेटा बलात्कार के एक मामले में नामजद दोषी है उसी को मोदी जी ने कानून एवं न्याय मन्त्री का पद सौंप दिया। शायद इस पद से वे अपने बेटे को कुछ ज्यादा राहत दिला पायें।

अच्छे दिन तो आ ही गये, बेशक नड्डों के, गिरिराजों के व गौड़ों के व इनके लग्गुए-भग्गुओं के।

तुर्की-ब-तुर्की

हमारा कहना है:-

□ ठीक है स्वास्थ्य मंत्री ऑपरेशन नहीं करता। वह इस लायक होता भी नहीं है। वह अनपढ़ एवं अंगूठा छाप भी हो सकता है। तो फिर वह करता क्या है? उसको सरकारी खर्च पर पाला क्यों जाता है? यदि सब कुछ डॉक्टरों ने ही करना है तो फिर उसकी जरूरत ही क्या है?

□ रमन सिंह को शायद पता नहीं था फिर वे जानबूझ कर अन्जान बनने का नाटक कर रहे हैं कि जिस जनता से वे भारी भरकम टैक्स की वसूली करके ऐश कर रहे हैं उसको स्वास्थ्य सेवायें उपलब्ध कराना उनका संवैधानिक दायित्व है। इस काम के लिये सैंकड़ों करोड़ का बजट उनकी सरकार बनाती है। इसी बजट से डॉक्टरों व अन्य स्टाफ़ की तैनाती व उपकरण और दवाओं आदि की खरीदारी की जाती है।

□ यदि डॉक्टर नालायक हैं, उपकरण खराब हैं या दवाइयाँ नकली हैं, तो इन्हें कौन देखेगा? यदि जनता ने ही सब कुछ स्वयं देखना है तो फिर मुख्यमंत्री तथा उनके

मन्त्रिमंडल की क्या जरूरत है?

□ यह रहस्य भी किसी से छिपा नहीं कि सरकार अपनी उपलब्धियाँ गिनाते वक्त जो आंकड़े पेश करती है उनको बनाने के लिये टारगेट तय किये जाते हैं। इसी तरह का टारगेट नलबंदी ऑपरेशनों का भी तय किया गया था। इसी टारगेट को पूरा करने के लिये डॉक्टरों पर बेजा दबाव बनाया गया था। डॉक्टरों की इस दलील पर भी सरकार यानी मन्त्री ने कोई ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी कि टारगेट पूरा करने के लिये उनके पास संसाधनों की बहुत कमी है।

□ जाहिर है कि डॉक्टरों की दलील तो सरकार तब सुनती ना जब वह इन आदिवासियों को इन्सान समझती। वह तो इनको पशुओं की श्रेणी में गिनती है। इसी के चलते इनको गाँवों से हांक कर लाया गया और पशुओं की तरह एक खंडहर अस्पताल में चोर-फ़ाड़ कर पटक दिया गया जमीन पर क्योंकि वहाँ कोई बेड तो थे नहीं।



“स्वास्थ्य मन्त्री ने तो ऑपरेशन नहीं किये” (बिलासपुर में 83 महिलाओं के नलबंदी ऑपरेशन मात्र 5 घंटे में कर देने के बाद 14 महिलाओं की मौत तथा तीसियों की हालत बिगाड़ने के बाद स्वास्थ्य मन्त्री के इस्तीफ़े की मांग का जवाब देते हुए कहा था)